सृजना और आलोचना

संपादक
डॉ. चन्द्रलेखा

शिल्पायन
दिल्ली-110032

(यू.जी.सी. एकेडेमिक स्टॉफ कॉलेज, गोवा विश्वविद्यालय के अन्तर्गत आंशिक आर्थिक सहयोग से 'अन्तर्विधावर्ती–पुनश्चर्या पाठ्यक्रम 2007' हेतु प्रकाशित)

ISBN 978-81-89918-76-7

© सम्पादक

प्रकाशक
शिल्पायन
10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क,
शाहदरा, दिल्ली-110032
दूरभाष : 011-22821174

मूल्य
300.00

संस्करण
2010

आवरण
उमेश शर्मा

शब्द-संयोजन
उमेश लेजर प्रिंट्स, दिल्ली

मुद्रक
रुचिका प्रिण्टर्स, दिल्ली-32

SRIJANA AUR ALOCHNA (Criticism)
edited by Chandralekha D'souza

संस्मरण विधा के नए आयाम

डॉ. चन्द्रलेखा

> "मित्रो, कितना मुश्किल, खतरनाक और चुनौती भरा काम है, अपने बहुत-बहुत करीब के व्यक्तियों और स्थितियों के बारे में लिखना, उनके 'भीतर' भी होना और 'बाहर' भी रहना, अच्छाइयों और कमजोरियों से बुनी और बनी 'आदमीयत' को ढूँढ़ निकालना जो उस व्यक्ति को बुरे-से-बुरे वक्त में भी 'लेखक' की जिम्मेदारी से लैस किए रखती है।"[1]
>
> **–काशीनाथ सिंह**

हर युग में जीवन बदला है या यूँ कहें कि बदलाव ही जीवन है। इस उत्तरशती में बहुत सारे भारतीय और पाश्चात्य वादों को हमने रेखांकित करने की कोशिश की है। क्लासिक और लोक परम्परा से लेकर आज तक न जाने कितने विमर्श आए और गए पर मनुष्य, उसका जीवन वाद और वादों से पहले भी था और बाद में भी बना रहेगा, सिर्फ उसका जीवन, जीवन के संवेदन और उसका निरूपण बदलता रहा है। सर एरिक न्यूटन का कहना है कि **"कलाकृति एक बच्चा है और परिवेश उसका पिता"**। जीवन की बहती धारा और समय की नदी धारा में लहरें आती-जाती रहती हैं। नदी धारा शायद उथल-पुथल में बदल या सूख जाए पर समय की धारा अनवरत् बहती रहती है। कोई इस धारा को रेखा में नापने की कोशिश करता है तो कोई उसे चक्र में समझने की कोशिश करता है। न जाने कब से यह चक्र चल रहा है जिसे हमने महाकाल चक्र कहा है। इस पूरे संसार में सब कुछ अनित्य है, ऐसा हमारे चिन्तकों ने बार-बार कहा है। पल-पल में यह तरंग बदलती रहती है तो इन तरंगों में आने-जानेवाला जीवन अपने परिवेश में एक जैसा कैसे हो सकता है? साहित्य में अगर जीवन झलकता है जो कि बदलता रहता है, अन्य नए-नए आविष्कार जीवन और रचनाकारों में परिवर्तन लाते ही रहते हैं तो साहित्य में इस

गतिशीलता को व्यक्त करना ही शायद ज्ञानबोध और कलाबोध है जिसे अनुभूत करके अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया जाता है। शायद यही वजह है जिसके कारण न्यूटन ने कहा, कलाकृति बच्चा और परिवेश उसका पिता। कृति और परिवेश उसका सम्बन्ध जो कि विविध आयामी होता है, जिसे रचनाकार अपने आयाम से प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है, जो कि उसके परिवेश की ही उपज होती है। इसी 'उपज' को विश्लेषित करके उसकी समीक्षा आलोचना करने का प्रयत्न किया जाता है।

परिवेश के अंतर्निहित सूत्रों को पहचानना, उसकी बुनावट के धागों को टेक्सचर के रूप में, बेल-बूटों की खूबियों को, उसकी रंग-सजावट को महसूस करना ही कृति को पहचानना है। उसी तरह कृति के कृतिकार को पहचानना भी महत्त्वपूर्ण है। काशीनाथ सिंह जिसे 'आदमीयत' की खोज कहते हैं वही संस्मरण विधा की चुनौती है। 'हमने' जहाँ काव्य विभाजन कहकर सब साहित्यिक विधाओं को काव्य अंतर्गत रखने का प्रयत्न किया वहीं पर 'उन्होंने' उसे 'Literature' (साहित्य) कहा। कोई भी कृति कितनी विधाओं को लेकर चलती है इसे तय करना बड़ा मुश्किल कार्य है। खासकर आज के हमारे जीवन में जब विश्वव्यापी आतंकवाद का बोलबाला हो और बिन-लादेन पूरे विश्व पर फैला हुआ हो तब जीवन के संवेदन उन महायुद्धों के संवेदन से भी अलग ही होंगे क्योंकि उस समय एटमबम था आज जैविक शस्त्र और एन्थ्रेक्स का पाउडर है। हमारे आज के रक्त में पता नहीं पंच महाभूत तत्त्वों के साथ क्या-क्या मिला है? इसे पहचानने में ही पता नहीं हमें कितने घने जंगलों के तानेबाने से गुजरना पड़ेगा।

उत्तर आधुनिकता से ही निकली एक शाखा उपनिवेशिता और उत्तर औपनिवेशिकता की है, जिसमें हमारी संस्कृति समाज और साहित्य की व्याख्या, परिभाषा में परिवर्तन ही नहीं बल्कि आमूल-चूल परिवर्तन की प्रवृत्ति दिखाई देने लगी है वह भी उत्तरशंती की ही देन है। शायद इसलिए ओरियन्टलिज्म (1978) के रचनाकार एडवर्ड सईद 1980 में जब 'लिट्रेचर एण्ड सोसायटी' सम्पादित करते हैं तब "उनकी समीक्षा में सर्वाधिक जोर रचना की सांसारिकता (और रचनाकार और पाठक से इसके रक्त सम्बन्ध) पर होता है।"[2] **भूमंडलीकरण** के इस दौर में **केलकुलेटिव थिंकिंग** दरअसल **मैडिटेटिव थिंकिंग** पर हावी हो रही है तब बौद्धिक जगत पर कितना भरोसा किया जा सकता है, ये तो हम हमारे आज को देखकर समझ ही सकते हैं। उपनिवेशवाद से मुक्त होकर जब हम Decolonized (निर्वासाहतिक) हो पाएँगे तब हमारे समीकरण और बदलेंगे। जीवन और साहित्य में इस परिवेश से क्या-क्या होगा, कितनी नई विधाएँ पनपेंगी या उनकी रेखाएँ ही धुंधलाती जाएँगी, कह नहीं सकते। साहित्यिक विधाएँ लेखक को तैयार मिलती हैं पर उसमें कितना बाहर से आता है और कहाँ से आया, कितनी ईंटें और कितना

रोड़ा मिलाया है तब जाकर भानुमति का कुनबा जुड़ पाया है यह बात कभी-कभी रचनाकार खुद नहीं बता पाता! अपनी-अपनी शैली में विधा को मिलाते-मिलाते रचनाकार पुराने में नया सिर्फ जोड़ता ही नहीं पर उसका परिष्करण भी करता है। रचनाकार सिर्फ प्रभाव ग्रहण ही नहीं करता बल्कि प्रभावित भी करता है। कृति की समीक्षा में जैसे एडवर्ड सईद **'रचना की सांसारिकता'** पर जोर देते हुए कहते हैं–"जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपने वंश-क्रम से मुक्त नहीं हो सकता उसी प्रकार रचना (पाठ) अपने सामाजिक मूल से अलग नहीं हो सकती।...रचना संसार में जीती है, वह संसार के लिए भी जीती है।"[3]

जिस प्रकार एडवर्ड सईद 'सांसारिकता' पर जोर देकर समीक्षा, आलोचना के अन्तर्गत नया मार्ग तलाशते हैं। सिर्फ 'पाठ' को ही संसार न मानकर 'पाठ' में संसार खोजते हैं वैसे ही **'साहित्यिक विधाएँ : पुनर्विचार'** पुस्तक में **डॉ. हरिमोहन** साहित्यिक विधाओं का वर्गीकरण करते समय रूधिर सम्बन्ध (Blood Relation) के सिद्धान्त को आधार बनाकर कल्पना करते हैं कि–"**मानव की तरह साहित्यिक विधाओं में भी चार रूधिर वर्ग–Blood group होते हैं**–AA,B,AB, तथा O; जिनमें A नाट्यवर्ग का, B कथेत्तर गद्य वर्ग का, AB कविता वर्ग का तथा O कथा वर्ग का सूचक वर्ग है।...यह आश्चर्यजनक संयोग है कि मानव में इन रूधिर वर्गों का जैसा प्राकृतिक नियम है, लगभग वैसा ही साहित्यिक विधाओं में भी देखने को मिलता है।"[4]

जिस तरह मनुष्य को रक्त देते समय रूधिर वर्ग का ध्यान रखा जाता है तथा अन्तवर्गीय रूधिर आधान का भी चार्ट-आरेख उन्होंने बनाया है। साहित्यिक विधाओं में भी रक्त-संचरण के आत्मसातिकरण को देखें–

दो विधाओं का *(रूधिर) वर्ग*	नई रचनाओं या विधाओं का वर्ग	
	सम्भव	*असम्भव*
O × O (कथावर्ग × कथावर्ग)	O (कथावर्ग)	A, B, AB (नाट्य, कथेत्तर गद्य, कविता)
O × A (कथा × नाट्यवर्ग)	O (कथावर्ग)	B, AB (कथेत्तर गद्य, कविता वर्ग)
A × A (नाट्य × नाट्यवर्ग)	A (नाट्यवर्ग)	B, AB
O × B (कथा × कथेत्तर वर्ग)	O (कथा वर्ग)	A, AB (नाट्य वर्ग, कविता वर्ग)
B × B (कथेत्तर × कथेत्तर वर्ग)	B (कथेत्तर गद्य वर्ग)	AB (कविता वर्ग)

A × B (नाट्य × कथेत्तर वर्ग)	O, A (कथा, नाट्य)	B (कथेत्तर गद्य)
O × AB (कथा × कविता वर्ग)	AB (कविता वर्ग)	O, B (कथा, कथेत्तर गद्य)
A × AB (नाट्य × कविता वर्ग)	A (नाट्य वर्ग)	
B × AB (कथेत्तर गद्य × कविता वर्ग)	B (कथेत्तर गद्य वर्ग)	O (कथा वर्ग)
AB × AB (कविता × कविता वर्ग)	AB (कविता वर्ग)	A (नाट्य वर्ग)

AB रूधिर वर्ग ऐसा है जो सभी रूधिर वर्गों के रूधिर को ग्रहण कर सकता है। उन्हें **सार्वभौम अभिग्राहक (Universal recipt)** कहते हैं। इसी तरह O रूधिर वर्ग सबको रूधिर दे सकता है इसे सार्वभौम अभिदानकर्ता (Universal donor) कहते हैं। कथावर्ग O ऐसा है जो Universal donor है और कविता वर्ग AB universal recipient है।

उत्तरशती में साहित्य की विविध विधाओं का विकास दर्शाने का विवेचन साहित्यिक विधा का रक्त सम्बन्ध; उसकी **'बल्दियत निर्धारण'** की प्रक्रिया पहले के वर्गीकरण से बहुत आगे निकल चुकी है, इस बात को और प्रमाण की जरूरत नहीं। पहले हमने गद्य-काव्य को वर्गीकृत किया ही नहीं था। जबकि आज के वर्गीकरण में शैली की शुद्धता के स्थान पर बहुत्त्व (प्लूरलिज्म) का रक्ताभिसरण प्रवाहित हो चुका है। इन सब विधाओं का स्वतन्त्र व्यक्तित्व आकार ले चुका है जो सिर्फ दृश्य-श्रव्य ही नहीं पर मल्टीचैनल्ड आयामी हो गया है। वैसे यह वर्गीकरण भी आनेवाले समय में और भी बदलेगा और बदलना ही चाहिए। इसी 'प्रदूषित' संसार में रचनाकार की कृति अवतरित होती है जिसमें गुणसूत्रों (क्रोमोसोम्स) की तरह ही बदलते जीवन ढाँचे में जीन ढाँचा भी बदला है जिसका स्पष्ट संकेत मिलता है। **आनेवाले समय में बदलता 'जीन ढाँचा' रचनाकार के परिवेश को बदलेगा और अपने वर्ग के रूधिर के साथ-साथ मतलब अपनी विधा के साथ-साथ और कौन-कौन-सी विधा मिली हुई है—और किस वर्ग का रूधिर विद्यमान है उसे मिले-जुले रूप में ही देखना होगा।** विधाओं के बाद अब देखते हैं कि 'संस्मरण' विधा का स्वरूप आज के हिन्दी साहित्य में जो दृष्टव्य होता है, उसका इतिहास क्या है।

संस्मरण विधा स्वतन्त्र विधा के रूप में बीसवीं सदी के तीसरे दशक से प्रतिष्ठित होती है। हिन्दी गद्य साहित्य में संस्मरण लेखन की परम्परा भारतेन्दु युग से ही मानी जाती है। जिसका सम्बन्ध स्मृति से है। आज यह विधा अति सम्पन्न

विधा बनती जा रही है। वैसे तो साहित्य का सारा कार्य-व्यापार भी स्मृतियों और संस्मरणों पर ही आधारित होता है पर उपन्यास, कथा, कहानी तक आते-आते वे अलग-अलग साहित्यिक पात्रों का चोला पहनकर आते हैं जबकि संस्मरण विधा के अंतर्गत ये पात्र पश्चित, विशिष्ट और विख्यात होते हैं। वैसे कोई भी संवेदना भाषिक और भावात्मकबोध का सामंजस्य कर पाती है तभी वह प्रेषणीय बन पाती है। रहीम का एक बरवै देखें–

पीतम इक सुमिरिनिया मोहि देई जाहु।
जेहि जप तोर बिरहवा करब निबाहु–

सुमिरन में जो जप चलता है वह भावात्मक आधार है जिससे भाषा का संगठन होता है। **संस्मरण में स्मृति चित्र के दो रूप हो सकते हैं–संस्मरण और आत्मसंस्मरण।** संस्मरण लिखते हुए रचनाकार किसी व्यक्ति विशेष के जीवन की एक झांकी ही प्रस्तुत करता है जबकि आत्मसंस्मरण में रचनाकार खुद पात्र होता है। किसी भी व्यक्ति के संस्मरण, आलोच्य और इतिहास ग्रन्थों से हटकर उसे और पारदर्शी बनाने में सक्षम होते हैं। व्यक्ति के समय का साक्षात्कार, उसका जुड़ाव, उसका दर्शन, उसका जीवन 'मरण' है, 'स्मरण' है या संस्मरण? इस बात को संस्मरणों के जरिए समझा जा सकता है। अगर व्यक्ति के जीवन-आंगन में मरण ही मरण है तो उसकी कथा-व्यथा भी वही होगी उसके स्मरणों में भी मरणों की गंध होगी।

संस्मरणों में एक शब्द 'रण' भी है। गुजराती भाषा में 'रण' रेगिस्तान के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है जो कि हिन्दी के 'रण' शब्द से भिन्न है। अगर व्यक्ति के जीवन में रेगिस्तान की रेत ही है तो उस 'रण' से जो प्यास और खारापन मिलेगा, जो तपन और तपिश होगी उसी का बोध होगा। सूखी रेत का दर्शन होगा, सीली-सीली रात होगी, खुले आकाश का दर्शन होगा। वह व्यक्ति अपने संस्मरणों में उस 'रण' को उजागर करेगा तो वह आत्मसंस्मरण होंगे और उसे निकट से देखनेवाला उन घटनाओं को लिखेगा या साक्षात्कार करने के बाद लिखेगा तो वे संस्मरण होंगे। इसकी यह भेद रेखा अपनी-अपनी शैली और अनुभव के अंतर्गत मिट भी सकती है। अगर 'रण' शब्द से जीना ही रणांगण होगा तो संस्मरणों में, उनके संवेदनों में बदलाव आ जाएगा। **किसे स्मरण करना है, किसे मरण देना है यह तो स्मरणकार तय करता है अथवा उसका साक्षात्कार लेनेवाला तय करता है।**

वैसे भी साहित्यकार कहाँ से क्या प्राप्त करेगा? उसकी विधा भी उसी के अनुरूप ही होगी पर कभी-कभी ऐसा भी होता है जैसे **काशीनाथ सिंह लिखते हैं–**

"मित्रो, आपमें से कइयों ने मुझसे कहा है कि ये 'संस्मरण' नहीं हैं, 'रिपोर्ताज' या 'रेखाचित्र' भी नहीं हैं। क्योंकि इसमें जीवन का उल्लास है; मगर ये कहानियाँ भी नहीं हैं क्योंकि इनके पात्र परिचित, विशिष्ट और विख्यात हैं। तो इन सबका घोल क्या है? मुझे खुद नहीं मालूम कि इस रचना को क्या कहना

चाहिए जिसमें पात्र और घटनाएँ ही नहीं..., उनके आगे कहानियाँ बेमजा और झूठी पड़ जाएँ।"[5]

इस पूरे उद्धरण में घोल शब्द मेरे लिए बहुत महत्त्वपूर्ण बनता है। रचनाकार के लिए जो भी घोल होता है वही आलोचक के लिए विश्लेषण का विषय होता है। उसे नाम कुछ भी दें, वह एक घोल है। वह किसी विधा के अंतर्गत हो भी सकता है और नहीं भी। यहाँ मैं एक स्वामीजी का चिन्तन HABIT शब्द को लेकर है उसे रखना चाहूँगी–

HABIT में से **H** को हटाइए बचेगा **ABIT,**

ABIT से **A** को हटा दें तो बचेगा **BIT,**

BIT से **B** को हटा दें तो बचेगा **IT,**

मतलब **आदत** को आप कितना भी पहचानें, समझें या सुधारें पर **IT** के रूप में वह बची रहेगी तो हमें अच्छी आदतें डालनी चाहिए। अब हम **घोल** और **IT** शब्दों को लेकर सोचें तो कह सकते हैं कि साहित्यिक विधाओं में भी संस्मरण हो या स्मरण या आत्मसंस्मरण, रिपोर्ताज या कहानी या रेखाचित्र अगर एक रूधिर वर्ग के हैं तो **घोल** के अंतर्गत चल जाएगा, पर अगर अलग रूधिर वर्ग के हैं तो अकाल अवसान हो जाएगा। वैसे हमारे आज के जीवन में **घोल** ही बचा है जो कि मल्टीचैनल्ड, मल्टीनेशनल्ड, मल्टीकल्चरड हैं पर रूधिर वर्ग के होते हुए भी लाल रंग के हैं जो कि **IT** के रूप में है। उसी तरह साहित्यिक विधाएँ भी विधाएँ हैं अगर उसमें उचित मिलान है तो साहित्य है जिसमें सब सन्निहित है।

संस्मरण विधा में **'मैं'** का स्वरूप क्या होता है उसे विष्णु प्रभाकर जी के शब्दों में रेखांकित करना चाहूँगी–

'मैंने' अपने **'मैं'** को महिमामंडित करने की कोशिश से निरन्तर बचने की चेष्टा की है।[6]

मनुष्य अपने **मैं** को कैसे व्यक्त करता है यह अंग्रेज कवि स्पेण्डर की कविता में देखा जा सकता है–

An **'I'** C*an never be great man.*
This Know great one has Weakness. To friends is most remarkeble for weakness.
His ill-temper at meals,
His dislike of being comtradicted.
His only real pleasure fishing in ponds,
His only real desire-forgetting.
To advance from friends to the
Composite self,

Central I is surrounded by
I eating,
I loving,
I angry,
I excreting,
And the 'great I' planted in him
Has nothing to do with all these.[7]

इसी मैं की खोज विपिन अग्रवाल–'व्यक्तित्व' हिन्दी की कविता में इस तरह करते हैं–

मैं तुम्हें पहचानता हूँ।
कल्लू से कान हैं तुम्हारे,
नाक गजब सी है,
अजब सी बात है तुम्हारी।
सोना सी आवाज है,
कद्दू सा पेट है,
सड़क सी चाल है,
खिड़कियों सी आँखें हैं,
और क्या-क्या गिनाऊँ,
सभी कुछ तो किसी न किसी की,
नकल है,
लगता है महज अपनी गठन को तुम
मैं कहते हो...[8]

अगर इन कविताओं में व्यक्त मैं आधुनिकताबोध है तो उत्तर आधुनिकता इससे भिन्न है। अगर मैं के 'great I' को मनुष्य पहचान सके तो हर समस्या का समाधान न भी मिले पर उसका दिलासा जरूर मिलता है। मनुष्य को चाहिए कि अपनी प्रकृति से सुसंवादित हो। सिर्फ अपनी गठन को ही नहीं बल्कि उसके भीतरी तत्त्वों से मिले और बाहर भी बने रहे तब 'मैं', 'हम' में परिवर्तित होता जाएगा। विष्णु प्रभाकर शायद इसी चेष्टा में अपने संस्मरण लिखते हुए या साक्षात्कार देते हुए चुनौती भरा कार्य कर सके। "याद हो कि न याद हो" मैं काशीनाथ सिंह भी इसी खतरे को मोलकर रचनात्मकता का स-रस घोल तैयार कर सके हैं। आज संस्मरण विधा ने अपनी रचनायात्रा 'ब्राह्मण' में प्रकाशित प्रतापचरित से शुरू होकर, अंबिकादत्त व्यास के निज वृत्तांत से आगे चलकर काफी यात्रा तय की है। रेखाचित्र, संस्मरण, रिपोर्ताज, फीचर आदि कथेतर विधाओं में लेखक को अपने स्व से बाहर निकलना पड़ता है, अपने परिवेश से टकराना पड़ता है, घटनाओं और सच्चाइयों को

उसके वास्तविक रूप में देखकर उसका सामना करना पड़ता है। इसमें वाकई साहस की आवश्यकता है।

कथा, कहानी, कविता में आत्मनिष्ठता, कल्पना चल सकती है पर गद्य की इस नवीन विधा में यथार्थ का टकराव और 'स्व' का विस्तार 'हम' में करना आवश्यक बनता है। विद्वानों का मानना है कि संस्मरण, रिपोर्ताज आदि तीसरे दशक में जितने लिखे गए हैं उसकी तुलना में आज, हिन्दी का लेखक इस विधा के प्रति उतना सजग नहीं है। द्विवेदी युग में बनारसीदास चतुर्वेदी ने संस्मरण साहित्य को प्रौढ़ता प्रदान की भी पर 'हमारे आराध्य' संस्मरण के बाद इतिहास साक्षी है कि उसकी धारा मंद पड़ गई थी। संस्मरण रचे जा रहे थे पर उसकी साहित्यिक चर्चा नहीं हो रही थी। प्रो. नामवर सिंह ने आलोचना और संस्मरण का अद्‌भुत गठजोड़ 'दूसरी परम्परा की खोज' में चर्चित के संस्मरण के रूप में किया है। फिर भी जब काशीनाथ सिंह ने बड़े भैया के नाम पर 'गरबीली गरीबी वह' लिखा जो 'पहल' में छपा उसके बाद में "इस साहित्यिक विधा को जो कि सुप्तावस्था में थी उसे पुनर्जीवन मिला"[9]

संस्मरण विधा की पूरी रचना प्रक्रिया को समझने के लिए हमें फिर काशीनाथ सिंह के विचारों को ध्यान में रखना होगा क्योंकि जो रचनाकार अपने स्वयं के अनुभवों से जिस विधा पर लिखता है वह उसकी उस विषय की विशेष पकड़ होती है जिसके द्वारा रचनाकार उस रचनात्मक विधा को संस्कार करता है और उसे ज्यादा संप्रेषणीय और विश्वसनीय बनाता है। यथा—

"संस्मरण लिखते समय मैं उस आदमी के समूचे टेक्स्ट को पकड़ना चाहता हूँ। टेक्स्ट का मतलब है, वह मूल आदमी जो अपने जीवन में और रचनाओं में फैला हुआ है, उस फैले हुए विस्तृत, संघर्षों से गुजरा हुआ आदमी, वस्तुतः कहाँ जीवित है, वह अपने समूचे रचना संसार में कहाँ है—मैं संस्मरण लिखते समय उसकी खोज करता हूँ क्योंकि मुझे लगता है कि वह आदमी अकेला नहीं है बल्कि उसके जैसे ढेर सारे आदमी इस धरती पर फैले हुए हैं। उसे पढ़ते हुए वे लोग अपने को भी उस आदमी में देख सकते हैं।"

हम सब तो दूसरों के संस्मरणों पर लिखने की अगर चाह रखते हों तो हमें उपरोक्त बात को गांठ में बाँध लेना होगा क्योंकि 'मूल आदमी' को पाना वह कहाँ 'जीवित' है जिससे वह संस्मरणीय बन सकता है, विश्वसनीय और साधारणीकृत बनते हुए भी असाधारण व्यक्तित्व का एक ढाँचा होता है जिस पर संस्मरण विधा को बुनना आवश्यक होता है। संस्मरण आत्मनिष्ठ विधा है जब 'मैं' अपने लिए अपने द्वारा लिखती हूँ पर जब दूसरा कोई मेरे लिए लिखता है वह जानता है या उसे जान लेना चाहिए कि संस्मरण का मतलब सिर्फ तथ्यों को जुटाना नहीं होता, संस्मरणकार इतिहास नहीं लिखता पर मनुष्य के ऐतिहासिक तथ्य से 'मूल आदमी' को खोजता है। उसका समूचा टेक्स्ट उस 'स्व' की यात्रा में होता है। उसे

'महिमामंडित' कर देने मात्र से संस्मरण में बात नहीं बनती। इसलिए विष्णु प्रभाकर उससे बचने की बात करते हैं। विपिन अग्रवाल उसे कविता में 'सिर्फ गठन को' मानने से इन्कार करते हैं और काशीनाथ सिंह उसे 'मूल आदमी' की खोज कहते हैं जिसे कवि स्पेण्डर 'Central I' और 'great I' की बात करते हैं।

'डॉ. नगेन्द्र : परम्परा और परिणति' पुस्तक में सम्पादक डॉ. सुषमा प्रियदर्शनी क्या लिखती हैं, देखें—"डॉ. नगेन्द्र का व्यक्तित्व प्रखर था, इस प्रखरता की 'खरोंचें' जिन्हें लगीं वे तिलमिलाए। अहंकारी 'क्षत्रप' अपने क्षेत्र में किसी विरोधी को सह नहीं पाता था। चयन के मामले में वे कई बार योग्य व्यक्ति को भी हैरान करते थे; जिनको योग्य समझते थे, उसकी हरसम्भव सहायता भी करते थे।" यहाँ पर प्रखरता की 'खरोंचें' महत्त्वपूर्ण बनती है और 'क्षत्रप' शब्द की क्षेत्र व्याप्ति जा सकती है उसके लिए पाठकों को भी अपने-अपने सन्दर्भ अपडेट रखने पड़ेंगे। यहाँ पर 'कथादेश' फरवरी 2001 में जो वर्णन प्रस्तुत किया गया है जिस पर अखिलेश ने सम्पादकीय में जवाब भी दिया है वह पाठकों के लिए इस इक्कीसवीं सदी में क्या मायने रखते हैं? उस पर भी हमें सोचना होगा—'मैं और मेरा समय'—

"कितने दरिद्र और घिनौने हैं ये दूधनाथ सिंह, रवीन्द्र कालिया, काशीनाथ सिंह के यथार्थ या सृजनात्मक संस्मरण कथानक, कितने दिवालिये हैं ये नामवर सिंह और राजेन्द्र यादव जैसों के इन्टरव्यू। आत्मकथ्य! जब दूधनाथ, कालिया और काशी को यकीन हो गया कि वे मिडियाक्रिटी से ऊपर नहीं उठ सके और समय ने उन्हें नकार दिया तो वे अपने भद्दे और दयनीय किस्से और बयान लाकर हिन्दी को और गंदला करने लगे। जो उल्टियाँ कालिया के संस्मरणों में हैं वे उसी वमन का हिस्सा हैं जो ऐसे लोग इस भाषा पर करते रहे हैं। उचक्केपन, कमीनगी और गलाजत से भरे ऐसे लेखक पर सिर्फ हिन्दी संस्कृति में ही सिर धुना जा सकता है।"[10]

अगर सही मायनों में सिर्फ यही हिन्दी संस्कृति है तो न इसमें संस् है न कृति। आत्मकथन सिर्फ वमन या उल्टियों का नहीं होता पर उसके पीछे की पूरी मानसिक प्रक्रिया और प्रक्रिया का सरोकार भी होता है। हमने जो रक्त सम्बन्ध का आरेख देखा है, उससे साफ दिखाई देता है कि साहित्य की हर विधा सम्भावनाशील होती है उसे एक चाक और कुम्हार की जरूरत होती है जो उसके रक्त सम्बन्धों को समझे और उसके अनुरूप नया 'घोल' तैयार करे। कथेत्तर गद्य वर्ग को विगत पृष्ठ पर ध्यान से देखें तो कौन-कौन से घोल तैयार हो सकते हैं और कौन से तैयार नहीं हो सकते का पता लग जाता है। नवम्बर 2001 में प्रकाशित राजेन्द्र यादव 'मुड़ मुड़ के देखता हूँ' में लिखते हैं यह मेरी आत्मकथा नहीं है इन अन्तर्दर्शनों को मैं ज्यादा से ज्यादा आत्मकथ्यांश का नाम दे सकता हूँ। चेखव के नाटक 'तीन बहनें' में मारी इरीनी अवसाद के क्षणों में जो कहती है—"काश, जो कुछ हमने जिया है वह सिर्फ जिन्दगी का रफ-ड्राफ्ट होता और उसे फेयर करने का अवसर हमें मिलता।" राजेन्द्र

यादव इस पर लिखते हैं—'रफ हो या फेयर, उनकी जिन्दगी वही होती जो है'—यहाँ पर आत्म-कथा और संस्मरण दोनों को छोड़कर लेखक अपने अन्तर्दर्शन से इसे आत्मकथ्यांश कहते हैं। आंशिक रूप में जो घोल तैयार हुआ उसकी रचना प्रक्रिया और कथा-आत्म तक की ही वर्तमान यात्रा ही नहीं पर यात्रा के लिए 'जस्टीफिकेशन' या वैधता की तलाश भी होती है, मानो कोई वकील केस तैयार कर रहा हो।

"आत्मकथा वे लिखते हैं जो स्मृति के सहारे गुजरे हुए दौर को तरतीब दे सकते हैं। लम्बे समय तक अतीत में बने रहना उन्हें अच्छा लगता है। लिखने का वर्तमान क्षण, वहाँ तक आ पहुँचने की यात्रा ही नहीं होता। कहीं न कहीं उस यात्रा की...मैं आज जहाँ हूँ वहाँ किन-किन घाटियों से होकर आया हूँ। घाटियों और शिखरों के चुनावों के पीछे 'आज जो मैं हूँ' का तर्क होता है। दूसरे शब्दों में इसे एक 'गढ़न्त' कह सकते हैं। आत्मकथा व्यक्ति की हो या संस्कृति की, दोनों इस गढ़न्त से मुक्त नहीं हो सकतीं। वे स्वतन्त्र कथा रचनाएँ हैं (फिक्शन)। वास्तविक नाम और स्थान कथा को विश्वसनीय बनाने की रचनात्मक तरकीबें डिवाइस होती हैं। ...आत्मकथा में मुख्य तर्क व्यक्ति है। दोनों जगह विश्वसनीयता का संकट स्थितियों और घटनाओं के चुनाव में कतर-ब्योंत करता है।"

अपने अन्तर्दर्शनों को राजेन्द्र यादव आत्मकथ्यांश में लिखते हुए उनकी जीवन दृष्टि किस तरह बदली है, उसका जिक्र करते हुए जिस किताब का उल्लेख करते हैं वह न तो किसी दार्शनिक द्वारा लिखी गई है, न ही किसी ऋषि, महात्मा द्वारा। उन्हीं के शब्दों में—'एक घटिया एक्ट्रेस और लगभग वेश्या की छोटी-सी आत्मकथा मेरे लिए किसी भी गीता से ज्यादा पूज्य है।' लिलियन रॉय की आत्मकथा 'आय वील क्राई टुमॉरो' लेखक ने शायद जब-जब मुश्किलातों का सामना किया तब उसी वाक्य को दोहराया होगा आज नहीं, अगर यही स्थिति रही तो कल रोऊँगी।'

अंत में राजेन्द्र यादव के प्रश्न चिह्न के साथ अर्पण करती हूँ—'मायरा और माही को—पता नहीं बीस साल बाद—वे अपने नाना के इस लेखन और भाषा को समझ पाएगी भी या नहीं।'

परन्तु प्रश्न यह भी है कि क्या हमारे आज के साहित्य लेखन को आने वाले लोग 'मायरा' और 'माही' शब्द को समझना तो दूर पढ़ने का कार्य भी करेंगे? इक्कीसवीं सदी की दहलीज पर हमने अंतर्राष्ट्रीय पुस्तक मेला, स्त्री विमर्श, दलित विमर्श के डिस्कोर्स, उत्तर आधुनिकता, अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष, वैश्वीकरण की त्रासदी, सत्ता का वर्चस्व एवं प्रतिरोध के विमर्श के रूप में मनाने का निर्णय लिया है। इस गत्यात्मक शताब्दी की यात्रा कुंडली नेट के जाले में लटकी है, अटकी रही है।

सन्दर्भ

1. काशीनाथ सिंह, याद हो कि न याद हो

2. राजनाथ, आलोचना, 2000, अंक तीन, पृ. 73
3. राजनाथ, आलोचना, 2000, अंक तीन, पृ. 73
4. हरिमोहन, साहित्यिक विधाएँ : पुनर्विचार पृ. 29
5. काशीनाथ सिंह, याद हो कि न याद हो
6. कैलाश चन्द्र भाटिया, साहित्य में गद्य की नई विविध विधाएँ, पृ. 78
7. रमेशचन्द्र शाह, सबद निरन्तर, पृ. 124-125
8. सन्दीप सो. लोटलीकर, काशीनाथ सिंह का संस्मरणात्मक साहित्य, पृ. 36
9. अखिलेश, तद्भव (सम्पादकीय)
10. राजेन्द्र यादव, मुड़-मुड़ के देखता हूँ, पृ. 20